की र्ति चौ ध री

कविताएँ

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

क्रम

●

कौन जाने प्रेरणा का स्रोत होता कौन
कोई सृजन की हर व्यथा सहता मौन
किसको राह मिल जाती
भटकता कौन

पंख फैलाए

पंख फैलाए
त्वरित गति से अभी जो उड़ गये हैं
मुग्ध विस्मृत कर मुझे,
वे अनगिनत जोड़े—
न जाने नाम क्या था
ग्राम क्या था—
कहाँ से उड़ते यहाँ आये;

शुभ्र लहरों से भरे आकाश-ऊपर
तैरते
वन-हंस, वन-हंसी
सुनहरे, श्वेत-पंखी
या कि भूरे और काले
अजनबी सब नामवाले—भूलती हूँ—
कौन थे जो उड़े नभ में
उतर प्राणों में समाये;

यह अजब सौन्दर्य
केवल एक क्षण का
—उन्हें : शायद
वे कि जो हैं कर्मरत
चलते सतत
इस यात्रा में रुक

नहीं जो आँख भर कर देख पाये
धरा पर बिखरा विपुल सौन्दर्य ।
उन्हीं के हित
विजन-पथ
आकाश-रथ पर
धरे अद्भुत वेश
सुषमा स्वयं आए
पंख फैलाए
त्वरित गति से ।

बरसते हैं मेघ झर झर

बरसते हैं मेघ झर झर

भीगती है धरा
उड़ती गंध
चाहता मन
छोड़ दूँ निर्बंध
तन को, यहीं भीगे
भीग जाए
देह का हर रंध्र
रंध्रों में समाती स्निग्ध रस की धार
प्राणों में अहर्निश जल रही
ज्वाला बुझाए
भीग जाए
भीगता रह जाय सब उत्ताप।

बरसते हैं मेघ झर झर
अलक माथे पर
बिछलती बूँद मेरे
मैं नयन को मूँद
बाहों में अमिय-रस-धार घेरे

आह! हिम-शीतल सुहानी शांति
बिखरी है चतुर्दिक

एक जो अभिशप्त
वह उत्तप्त अंतर
दहे ही जाता निरंतर
बरसते हैं मेघ झर झर।

बहुत दिनों बाद

आज आँख खुलते ही
किरन एक शर्मीली
सिरहाने आ डोली।
थपकी सी मलय-वात
बड़े निकट अस्फुट स्वर में
जैसे कुछ बोली।

देखा तो जाने क्यों जान पड़ा—
सुबह नहीं मेरी है
किसने यह जादू की छड़ी यहाँ फेरी है
दीवारें और और
अजब अजब दिखता है सभी ठौर

धीरे से उठ कर
अपनी ही अंजलि में अपना मुख धर
मैंने बहुत देर अपने से प्यार किया।
कमरे में जैसे हो अतिथि कोई
वैसी ही मुद्रा में
सूनेपन को सत्कार दिया।
चंचल चरणों से चल
खिड़की दरवाज़े के पार झाँक
जाने . . क्या देखा, क्या जाना . .

कागज़ पर निरुद्देश्य
रेखाएँ खींच बहुत हर्षित हो
जाने किस मूरत को पहचाना

और तभी कोई ज्यों खिलती है अकस्मात
कई दिनों बाद
लगा—आज नहीं खाली हूँ।

कोई नहीं और बात
निश्चय ही मैं
कुछ अच्छा लिखने वाली हूँ।

बदली का दिन

यह आज सुबह जो बादल छाए धुँधुआते
तो धूप खिली ही नहीं
और दिन बीत गया।
यह नहीं कि खेतों में ही सोना बरसा हो
दिन तो बस
यों ही यों ही सा कुछ बीत गया।
ज्यों बिन जाने बिन ख़र्च किए
मन का मधुघट
हम सहसा देखें—यह लो यह तो रीत गया।

वह जो किरनों के पत्रों में
अनगिनत ज्योति के संदेशे लिख आता है
वह बदली का दिन नहीं
धूप का दिन होगा।

वह जो मन
अपने और पराए खोज खोज वितरण करता
वह रिक्त तिक्त तो नहीं
गंध मधुवन होगा।

वह शाश्वत हो।
वह ज्योति प्रज्ज्वलित अग्निकुंड
वह ममतामय अभिनव निकुंज

उसके प्रकाश से हारेगा वह हर बादल
जो केवल घिर कर कड़वी धुंध उठाता है
इसके निकुंज में फूलेंगे चम्पई कुसुम
जिनका शुभ रँग
बन्धुत्व मैत्री का प्रतीक बन जाता है।

एक साँझ

वृक्षों की लम्बी छायाएँ कुछ सिमट थमीं।
धूप तनिक धौली हो
पिछवाड़े बिरम गई
घासों में उलझ उलझ
किरणें सब श्याम हुईं।
शाखू शहतूतों की डालों पर
लौटे प्रवासी जब
नीड़ों में किलक उठी
दिशि-दिशि में गूँज रमी।

पच्छिम की राह बीच
सुर्ख़ चटक फूलों पर,
कोंई पर, कूलों पर
पलकें समेट उधर
साँझ ने सलोना मुख हौले से टेक दिया
एकाएक जलते चिराग़ों को
चुपके से जैसे किसी ने हो मंद किया।
दुग्ध धवल गोल-गोल खम्भों पर
छत पर, चिकों पर
वहाँ कँपती बरौनियों की परछाहीं डोल गई।
आह! यह सलोनी यह साँझ नई।

मैं तो प्रवासी हूँ।

ऊँचा यह बारहखम्भिया महल औरों का
दुग्ध धवल आँखों में अंजन सी अँजी साँझ
कजरारी बाँकी कटीली उस चितवन सी
सजी। साँझ औरों की

मेरी तो छज्जों दरवाज़ों
झरोखों मुँडेरों पर
मँडराते
घुमड़-घुमड़ भर जाते
धुएँ बीच
घुटती सहमती उदास साँझ
और. . और. . और वह शुक्र तारा
भोर तलक जिस पर अँधियारे की परत जमी।

निस्तब्ध आधी रात

निस्तब्ध आधी रात
सोती सी दिशाएँ
खुल गई है
अचानक ही आँख।

दूर से आता उजाला
झिंझरियों की राह
चौड़े पत्र के किस पेड़ की
परछाँह
रह-रह काँपती दीवार पर।

बड़ी-छोटी टहनियाँ
उलझे-नुकीले पात
हिलते हवा सँग हर बार
बदल देते रूप—

फूले अधखिले कुमुदिनि कुमुद के गौझ
(जैसे बढ़ा कर अब हाथ भर लूँ अंजली)

झुरमुट बाँस के बन के बड़े अपरूप
दौडूँ छिपूँ निकलूँ
चाँद से यों करूँ अठखेली

यह फूलों लदी निर्गन्ध किंशुक डार
झरती क्यों नहीं

मुझ पर ?
अनगिनत ये दृश्य
मैं हूँ मुग्ध मोहित ।

दूसरे की रोशनी यह
दूसरे के द्वार पर का वृक्ष
मेरा घर प्रकाशित
डोलते दीवार पर मेरी
अनंकित चित्र किसके हैं
कौन जाने ।

कौन जाने प्रेरणा का स्रोत होता कौन
कोई सृजन की हर व्यथा सहता मौन
किसको राह मिल जाती
भटकता कौन
किस पर बरस जाता
यों अयाचित सुख
कि नयनों से पिये
बाहों भरे
वह अपरिमित उन्मुख
सदा ।

एक मेरे पास भी
यह दर्द का पौधा
कि जो इस ज़िंदगी से
खींच कर संजीवनी बढ़ता
इसकी छाँह यदि सुख दे तुम्हें
सौ बार मैं दुख को समर्पित हूँ
निरंतर घुटन बेचैनी निराशा

के अँधेरे गर्त से
लड़ते हुए ये बोल
तेरे पंथ में कर दें उजाला
मैं उन्हीं पंकिल अँधेरी घाटियों को
बारम्बार अर्पित हूँ

निस्तब्ध आधी रात
मेरी खुल गयी है आँख
मैंने आज फिर देखा
अभी भी प्रज्ज्वलित है आग
मन की
वह तो राख थी
बस आवरण की
बुझी बेबस क्लांत

तृष्णा

व्याकुल हूँ।

नस-नस में उठता तूफ़ान।
अरे, कौन दिशा जाऊँ,
मन किससे बहलाऊँ ?
यह गन्धों का उत्कट आह्वान !
आह, व्याकुल हूँ।

ऊँचे गिरि गह्वर में,
निर्झर में, प्रस्तर में,
बार-बार घूमा हूँ,
सिंधु के किनारे भी प्यासा हूँ।

मधुवन में झर-झर सुवास बीच
कितना चल आया हूँ !
ज्यों का त्यों रिक्त, निर्गन्ध
रह जाता हूँ।

शंकित हूँ, तृषित हूँ
बहुत मोहित, चकित हूँ।
आह ! किससे यह शासित हूँ—
जान नहीं पाता हूँ।.....

रे मन, रे, तृष्णा कस्तूरी है।

और कहाँ पायेगा,
फिर-फिर भरमायेगा,
गंध तो तुझी में रे,
यहाँ कहाँ दूरी है।
रे मन, रे, यह तो कस्तूरी है !

सीमा-रेखा

मृग तो नहीं था कहीं
बावले भरमते से इंगित पर चले गए
तुम भी नहीं थे
बस केवल यह रेखा थी
जिसमें बँध कर मैंने दुस्सह प्रतीक्षा की
संभव है आओ तुम
अपने सँग अंजलि में भरने को
स्वर्णदान लाओ
इन चरणों से
यह सीमा-रेखा बिलगाओ

पर
बीते दिन वर्ष मास
मेरी इन आँखों के आगे ही
फिर फिर मुरझाए ये निपट काँस

मन मेरे ! अब रेखा लाँघो
आए तो आए
वह वन्य
छद्मधारी
अविचारी
कर खंडित कलंकित

ले जाए तो ले जाए
मंदिर में ज्योतित
उजाले का प्रण करती
कंपित निर्धूम शिखा सी
यह अनिमेष लगन

कौन वहाँ आतुर है
किसे यहाँ देनी है
ऊँचा ललाट रखने को
अग्नि की परीक्षा वह

सुधि के क्षण

जब याद तुम्हारी आती है,
साँसों में केशर की उसाँस छा जाती है।
सहसा
यह आस-पास का जग,
फीका-फीका सा लगता है।

ऐसा लगता,
जैसे बादल के महलों में मैं बैठी हूँ,
धरती के मानव जहाँ नहीं जा सकते हैं।

उन एकाकी महलों में
सुधि का परस
कंप भर देता है।

ऐसी सिहरन,
ऐसा कम्पन,
मधु से
भीगा-भीगा सा मन
मैं भूली सी बैठी रहती,
जैसे पुष्पों का भार लिए सकुचाय लता।

जाने कैसी अनुभूति बिखर सी जाती है,
मैं सिहर-सिहर रह जाती हूँ,

आकंठ डूब कर
मधु के निर्मल सागर में।
अनजाने भावों की भाषा को
व्यक्त नहीं कर पाता है
मेरा यह मन।
कहने को होता बहुत,
मगर ऐसा लगता,
जैसे—
तुम दूरी पर भी रह
इन सब बातों से अवगत हो।
अनकहे भाव,
जो बिना कहे खुल जाते हैं,
उनकी लज्जा वरदान सदृश छा जाती है।

मैं भूली सी बैठी रहती
लज्जा से नत,
पुलकों से भर,
ये जाने कैसे सुधि के क्षण !

गीत

अरे, क्यों प्रतिमा से अनुराग––
सृजन की तत्परता से भाग !

मूर्तिकार, क्यों कर्मठता के बंधन ढीले होते
अपने हाथों रची मूर्ति को ही लख संयम खोते
तुम तो सृष्टा, सृष्टि तुम्हारी सुन्दरतम हो जाए
यही भावना ले, गति भी निर्माणरता बल पाए
मूर्ति देख कर सुष्ठु,
दृष्टि में मोह उठा क्यों जाग ?
अरे क्यों प्रतिमा से अनुराग
सृजन की तत्परता से भाग !

सृजन-हलाहल पी अमृत से बनी तुम्हारी प्रतिमा
राग-पुष्प, चंदन-चर्चित पाए देवालय गरिमा
अगणित कंठ झुकें श्रद्धा से पूजाध्वनि का मेला
दूर तुम्हारा रत मन तब हो चाहे बड़ा अकेला
प्रतिमा की विधि-रेख
देख क्यों उपजे मन में राग ?
अरे क्यों प्रतिमा से अनुराग
सृजन की तत्परता से भाग !

एक मूर्ति का भाग्य तुम्हारी गति को यदि पा लेगा
कौन असंख्यों रचनाओं को आकृति आभा देगा

पूर्ण सुष्ठु गरिमा मंडित से मोह सभी कर लेंगे
पर क्या सब निर्माण-पीर को तुम सा हँस झेलेंगे
गढ़ते रहो दूसरों के हित
मन में धरे विराग !
अरे अब प्रतिमा से अनुराग
सृजन की तत्परता से भाग !,

स्वयंचेता

घाव तो अनगिन लगे
कुछ भरे कुछ रिसते रहे पर
बान चलने की नहीं छूटी।

चाव तो हर क्षण जगे
कुछ कफ़न ओढ़े, किरन से संबंध जोड़े
आस जीवन की नहीं टूटी।

भाव तो हर पल उठे
कुछ सिंधु-वाणी में समाए, कुछ किनारे
प्रीति सपनों से नहीं रूठी।

इस तरह हँस रो चले हम
पर किसी भी ओर से, संकेत की
कोई किरन भी तो नहीं फूटी।

लोभ अप्राप्य का...

चाँद बड़ा प्यारा है
सूने आकाश का एक ही सहारा है।

फूल चटक खिलते हैं
गंधों की बाहों में शीश धरे हिलते हैं।

वात बड़ी शीतल है
पुरवा के झोंकों से स्निग्ध पूर्ण हृदतल है।

लेकिन यह...
चाँद बहुत ऊँचा है
गंध अनदेखी मन
पुरवा के झोंकों की माप कहाँ मिलती है।
जाने सब किसका है?
यह सब तो सपना है
तुमको तो तपना है।
मन! जो भी अपना है
उसको ही प्यार करो
अनपाया—भार करो
लोभ अप्राप्य का
गहरे से सालेगा
सब कुछ लेगा ही
कुछ देगा तो नहीं! नहीं!!

ख़ाली मन . . . ख़ाली तन

ख़ाली मन ख़ाली तन
जीवन के लक्ष्यों से
ठनी बड़ी अनबन।

पाहुन बन बैठे
किसके
अपने सपन ?

करने को पार बहुत
घने बीहड़ बन।
वरद हस्त नहीं
शीश पर अवसाद सघन।

कैसे सपरेगा हे राम
निर्माण प्रण !
ऐसे में होगा भी
क्या कुछ परिवर्तन !

केवल एक बात थी

केवल एक बात थी
कितनी आवृत्ति,
विविध रूप में करके निकट तुम्हारे कही।

फिर भी हर क्षण,
कह लेने के बाद,
कहीं कुछ रह जाने की पीड़ा बहुत सही।

उमग, उमग भावों की,
सरिता यों अनचाहे
शब्द-कूल से परे सदा ही बही।

सागर मेरे! फिर भी,
इसकी सीमा-परिणति,
सदा तुम्हीं ने भुज भर गही गही।

निर्जन तट पर

निर्जन तट पर बैठे बैठे,
सदा सर्वदा से,
कितनी ही गीतों की नौकाएँ डालीं।

घिरे धुँधलके दीपदान को,
रच रच कितनी ही,
असंख्य तो बाती बालीं।

सम्भव है अनजान दिशा में
अन्धकार की पन्थ-भ्रान्ति को
किसी दीप की लौ ने सजग चेतना दी हो।

क्या जानें लहरों के प्रबल थपेड़ों से
घबरा हारे भुजदण्डों ने
इन नौकाओं में छाँह गही हो।

लेकिन तट अब भी निर्जन है
दीपदान की वेला आकुल व्याकुल . . .।

आवाज़

सब जो हैं,
अपनी कुण्ठाओं के स्वामी !
बेबस हारे लाचार,
ज़िन्दगी के खेलों में,
असफल नामी।
सब जो हैं,
ऊँचे लक्ष्यों से दूर,
अज्ञान-मूढ़ता-जड़ता,
निम्न तुच्छता के,
भावों से भरपूर।
सब हैं !
कितनी ही प्रबल वर्जनाओं के विरुद्ध जीवित !
अपने ही अस्तित्वों से खुद मोहित !
तुम सुनो—
अरे ओ शिखरों पर चढ़नेवालो !
उगनेवालो !
बढ़नेवालो !
आवाज़ दूर अनजान दिशाओं से आती
विजयी कण्ठों से नहीं, दलित स्वर में गाती—

"आगे पथ में जो भी अँधियारा आयेगा
पावन माथे पर कभी अशुभ जो छायेगा

हम उस सबके ही ज्ञाता हैं।
वे क्या जानें?
जो कभी अशुभ से नहीं मिले।
काँटों से भरे राह-वृन्तों पर नहीं खिले।
जीवन के केवल विजय पाहुने,
आख़िर बतलायेंगे क्या?
असफलताओं से लड़ने,
गिरने पर थमने
की युक्ति जतायेंगे भी क्या?"

सब क्षुब्ध खिलाड़ी,
असफलता का राज़ तुम्हें बतलायेंगे।
कब कैसे कौन कहाँ अनजाने,
गिर पड़ता, जतलायेंगे।
पथ-दर्शन जो चलनेपर,
उनको नहीं मिला, दे जायेंगे।

सब जो हैं,
अपनी कुण्ठाओं के स्वामी!
बेबस हारे लाचार
ज़िन्दगी के खेलों में असफल नामी।

वात्याचक्र

जानते होगे यों ही चला जाता है
वात्याचक्र
मोटे मोटे तनों को सिर्फ़ छूता हुआ
उन्हें कँपा भी सके
ऐसा किसमें दम है

इसीलिए शायद तुम्हें ये वहम है
कि ये बवंडर, ये झोंके झकोरे
तो आते ही जाते हैं
इनसे भला तनों जैसे मन
कहीं दुख पाते हैं ?

तना तो तना है
मुझे उसके लिये कुछ नहीं कहना है
वात्याचक्रों से भला
उसका क्या बिगड़ा या बना है

बात तो सिर्फ़
उन पौधों और लताओं की है
उन नरम कच्ची
कोमल कलिकाओं की है

उन सपनों विश्वासों की है
जो अभी जन्मे हैं
उन उमंगों अभिलाषाओं की
जिनके चेहरे ही सिर्फ़ बने हैं ।
वह जो कल खिलकर
दिशाएँ महका देता
आज अगर छिन्न भिन्न ज़मीन पर पड़ा है
वह जो कभी बढ़ता
तो आशिष सा छा जाता
यहां टेढ़ी मेढ़ी विरल टहनियों में खड़ा है

तो बोलो किसे क्या कहें
सिवा इसके कि
आओ हम तुम सहें
कि जो बढ़ने वाले हैं
वे बढ़ते रहें।

खिले हर कली, गंध फैलाए
साँस ले खुली हवा में
हर अंकुर
छाँह दे तप्त धरित्री को
झूम लहराए
न फँसे धूल में बवंडर में
कभी
उगती हुई कोपल का सुनहरा मुख ।
न छिने निर्दयी हाथों कहीं
सपनों विश्वासों के बीच
जीने का सुख ।

विनती करो

रहने दो झूठे आश्वासन,
बेदम बोल !
रहने दो खोखली टेक,
आशा अनमोल !
कर सकते हो बन्धु अगर
विनती करो—

थक कर गिरूँ कहीं तो
रौदूं नहीं कली।
वरन गिरूँ उस बाँध पास
जो कल बारिश में टूट फूट
जलमग्न करेगा गाँव !

दम तोड़ूं तो—
कहीं खेत में,
सड़कर गलकर
फ़सल बढ़ाऊँ !
बीज उगाऊँ
और नहीं तो
मरना ही है अगर निपट असहाय
मरूँ उस घुप पाताली अन्धकार में—
जहाँ न कोई
नवजन्मे शिशु की आत्मा हो।

स्वप्निल आँखें
आतुर पाँखें
कुछ, कुछ भी जो सब
उगना बढ़ना और पनपना चाह रहा
वह वहाँ न हो !
तुम करो प्रार्थना बन्धु !
सच मानो—
यों अँधियारे में मर जाने की हविस नहीं थी !
लेकिन यह असहाय मृत्यु
अनुकरण बने,
या थोड़ी सी भी आस्था को कुचले
मुझको स्वीकार नहीं
कर सकते हो बन्धु अगर
इतना करो—
और नहीं कुछ,
बस केवल
विनती करो !

अनुपस्थिति

सुबह हुई तो,
सूरज फीका फीका निकला
वातायन की हवा नहीं गाती थी गीत
सजे हुए गुलदानों के रक्तिम गुलाब
क्या जाने क्यों पड़ते जाते थे
प्रतिक्षण पीत।

बाहर बिखरा,
क्षितिज शून्य मुझसे निस्पृह था
आकर्षण भी नहीं, न था कुछ आमंत्रण
चित्रलिखी सी सज्जा दीवारों पर्दों की
आप लौट आतीं आवाज़ें
कैसा प्रण।

साँझ घिरी तो
लगा अचानक अब अँधियारी
चिर अभेद्य होकर यों ही मँडरायेगी
भूले भटके एक किरण भी नहीं यहाँ
ज्योतिर्मय कांचन तन से
भू छू जाएगी।

दीप जला
पर उसका भी प्रकाश मटमैला
लौ की दीप्ति क्षीण होती जाती छिन छिन

निर्बल होते मन पर सहसा याद घिरी
केवल एक तुम्हीं इस गृह में नहीं
आज के दिन।

कुहू

दिन बीते कभी इस शाख पर
किसी कोयल को कूकते सुना था।
तब से जब भी इस ओर आती हूँ
बार बार
कानों में वही, 'कुहू'
गूँजती हुई पाती हूँ।
जैसे मेरे मन के लिए
एक बार का पा लेना ही हमेशा की थाती है
या वह कोयल की कूक है
जो अमराई में छा ही जाती है।

परिस्थितियाँ

ऊबड़-खाबड़ बेतरतीब पत्थरों में
थोड़ी जगह बनी।

बादलों की छाँह कभी दूर
कभी हुई घनी।

पास ही निर्झर की छल छल
छलती रही।

जल सामीप्य की आस
पलती रही।

कँकरीली पथरीली एक चप्पा जगह
माटी की उर्वरता दूर से कर संग्रह
पौधा बढ़ता गया
मार्ग गढ़ता गया।

लता

"वृक्ष तो दूर है भला कैसे चढ़ेगी
फिर बिना कुछ सहारे लता क्योंकर बढ़ेगी ?"

"अरे फैली है धरती निस्सीम
और चेतन की प्रकृति तो विकास है
बढ़ेगी
फूलेगी
शिरा शिरा गमकेगी आस है।
पुष्पमयी फलदायिनि अक्षम किस अर्थ में।
सुषमा को आश्रय में पालें क्यों व्यर्थ में।"

...कई दिन बीते, सुधि भूली
पर अचानक ही एक साँझ देखा--
अंग अंग मुकुलित
शत कोमल करों को बढ़ा
लता ने वृक्ष की दूरी सब नाप ली।
पात-पात, डाल-डाल
सक्षम दृढ़ तरु विशाल
लता कुंज आवृत था।
श्रांत क्लांत जीवन का
प्राप्य ज्यों कृत था।
गोधूली वेला में सहसा सब बदल गया

लगा शून्य अहम् यह स्पर्धा आडम्बर है
प्रणति नमन जीवन का एक मूल स्वर है
धारा उद्दाम हर सागर की अनुवर्ती
मुकुलित हर पंखड़ी अर्पित होकर झरती
जीवन की गति ही बस केवल समर्पिता
एक टेक एक छाँह अर्पित हर गर्विता ।

लता

नाहक ही मेहनत गई
दिन दो दिन की
रक्खा तो जतन से था
चाहा भी मन से था
कूड़े पर उगी थी
थाम चम्पक करों में
एक गमला सजा दिया
तुमने तो भला किया
हवा धूप पानी से रक्षा की
हरियाए फले और फूले, प्रतीक्षा की

अभी वहाँ कूड़े पर उगती तो उगती ही
सुर्ख़ चटक फूलों से खिलती तो खिलती ही
रंग रूप शोभा से भर देती
अंतस्तल धरती का।

वही गंध पाने को
इतनी जो सुख सुविधा
देख-भाल
तुमने की, व्यर्थ गई
कमबख़्त से जब और कुछ न बना——मुरझ गई।

प्रगति

अभी कुछ ही दिन तो बीते
इधर से निकले
कैसा सुनसान था !

और सच में किसे भान था
कि जहाँ आसमान में उड़ने वाले
परिंदे ही कभी ठहरते हैं
या आसपास खड़े पेड़
हवा से सिहरते हैं
पुराने खँडहरों की साँय साँय
वही एक सी हरदम,
सड़क पर चलने वाले
इक्का-दुक्का राहगीरों के क़दम,
वहीं ये मकान और बँगले !
क्यारियों में बेतरह फूल
खिले . . . अधखिले।
अभी कुछ ही दिन तो बीते
इधर से निकले।

और अब ये नए रास्ते हर ओर
छज्जे बालकनियों से उठता हुआ शोर
लान पर खेलती

चमकदार आँखों वाली बच्ची
अजनबी चेहरे
फ़िज़ाँ में भी
ज़िन्दगी के बोल जैसे घुले मिले।
अभी कुछ ही दिन तो बीते
इधर से निकले।

इतने ही में कोई बस्ती बस गई
लगता है।
अरे मैं तो वहीं हूँ
ज़माना कितनी तेज़ी से बदलता है!

सृजन की टेक

ज़मीन तो बंजर सी ही थी
मगर जोतने-गोड़ने औ' बोने का काम रहा जारी।
वक़्त से सिंचाई
चाव से निराई की
पर फ़सल न हरियाई
तो भी, काम नहीं ज़रा सा लगा भारी।
फिर से इन्तज़ार
यह मौसम हो पार
और बोयें इस बार
उसी चाव-उछाह में सब हुई तैयारी।
अब फ़सल उगे न उगे
मगर मेहनत ने बताया अभी भी
सृजन की टेक मन ने नहीं टारी।

अनुभव

नभ के कोने में एक सितारा काँपा
मुझको लगा कि हाँ—
हर चीज़ कभी तो, यों ही ऊपर चमकेगी

निस्तब्ध लहर का पानी
कंकड़ से काँपा
मैंने जाना
कम से कम जड़ता एक बार तो सिहरेगी।

सुनसान जंगलों की लतरों में
फूल खिले
ख़ुशबू बोली
हाँ एक वार, सब पर यह ख़ुशबू बिखरेगी

मंज़िल अब तय थी
मैंने प्रतिमा जब पा ली
आस्था डोली
सपना ही सुंदर
मूरत तो सबके जैसी, यह क्या देगी ?

सुख

रहता तो सब कुछ वही है
ये पर्दे...यह खिड़की ये गमले...
बदलता तो कुछ भी नहीं है

लेकिन क्या होता है
कभी कभी
फूलों में रंग उभर आते हैं
मेज़पोश कुशनों पर कढ़े हुए
चित्र सभी बरबस मुस्काते हैं।
दीवारें : जैसे अब बोलेंगी
आस पास बिखरी किताबें सब
शब्द शब्द
भेद सभी खोलेंगी

अनजाने होठों पर गीत आ जाता है।

सुख क्या यही है ?
बदलता तो किंचित नहीं है,
लेकिन क्या होता है कभी कभी।

कविकर्म

फिर पूरा पखवारा चलकर
चाँद फूल की पहली पँखुरी
चित्रकार ने एक बार जब
और उरेही
मेरे मन का घिरा कुहासा हटा——
चाँदनी बरसी——

यह तुम हो जो अँधियारे से
(ज़्यादा से ज़्यादा जो केवल एक पाख का)
डर-घबराकर
आँख चुराकर
कर्मों की जीवन्त कड़ी को
भूले बैठे निष्क्रिय ।

अँधियारा वह
जिससे लड़ने में
सूरज ने और चाँद ने
नखतों की उजियारी
मानिकमयी छाँह ने हार न मानी
उससे तुम हारे !
ओ सृष्टा ! उसपर तुमने
सर्जन के क्षण वारे !

मैं ? सचमुच मैं !
क्या इतने से ही थक आया ?
नहीं ! नहीं ! बस नयी सुबह सा
मैंने एक सत्य अपनाया।

हर पंक्ति से

हर पंक्ति से
हर उक्ति से
मुझको निरंतर प्यार
जैसे   स्वयं से
          तुम से।

बिना अवदान पाए
जो अडिग अविचल
अवश दुर्बल क्षणों में
जो सतत संबल—
उस भक्ति से
उस शक्ति से
मुझको निरंतर प्यार
जैसे   स्वयं से
          तुम से।

हर पंक्ति मेरी
एक तुम पर उक्ति।
क्षण क्षण भक्ति मेरी
तुम अपरिमित शक्ति।
मुझको दान दो !
अभिमान मेरा
ज्ञान मेरा

बने केवल ध्यान।
फिर हर व्यक्ति
पर अनुरक्ति हो
जैसे निरंतर प्यार
मुझको स्वयं से
तुम से।

पढ़ते-पढ़ते

अब भी यह मन भर आता है
पढ़ते-पढ़ते . . .

कथा-काव्य के कल्पित पात्रों पर
प्राणों का सब ममत्व
आकुल उद्वेलित हो कर
बरबस छाता है।

बड़वानल की सी आग नयन में जल उठती
उत्कट असह्य वेदना शिराओं में पलती
ऐसी अपराजित सघन व्यथा
रोदन घबराहट आतुरता
छपटाहट इतनी—शक्ति मिले क्या कर डालूँ।
उत्सर्ग करूँ सबका वांछित
पा लूँ पा लूँ।

तब लगता है
मुझमें अब भी निश्छलता है
पागल भूलों
ढहते कूलों पर इस मन की
विह्वलता है
हर निर्मल मन
दुख में उन्मन
हो, इसको भी यह खलता है।

मरा यह रूप !

किन्तु कब तक ?
केवल कुछ क्षण
पढ़ते-पढ़ते
अब भी यह मन भर आता है।

यथास्थान

नहीं, वहीं कार्निस पर
फूलों को रहने दो।
दर्पण में रंगों की छवि को
उभरने दो।

दर्द : उसे यहीं
मेरे मन में सुलगने दो।
प्यास : और कहाँ
इन्हीं आँखों में जगने दो।
बिखरी-अधूरी अभिव्यक्तियाँ
समेटो, लाओ सबको छिपा दूँ
कोई आ जाए
छिः, क्या इतना अस्तव्यस्त
सबको दिखा दूँ।

पर्दे की डोर ज़रा खींचो
वह उजली, रुपहली किरन
यहाँ आए
कमरे का दुर्वह अँधियारा तो भागे
फिर चाहे इन प्राणों में
जाए. . .समाए।

उसे वहीं रहने दो।
कमरे में अपने
तरतीब मुझे प्यारी है।
चीज़ें हो यथास्थान
यह तो लाचारी है।

एकांत

अब अकसर जब
एकांत कहीं भी होता है
जाने किसके हित माथा मेरा झुक जाता
ये दृग मुँद कर वर्णनातीत सुख पाते हैं।

मेरी तो कोई मूर्ति नहीं,
मैंने तो कुछ भी, कहीं, प्रतिष्ठित नहीं किया।
प्रतिक्षण बढ़ते ही जानेवाले जो अभाव हैं
उनकी कोई पूर्ति नहीं।

पर जाने क्यों
अनजान दिशा में हाथ स्वयं जुड़ जाते हैं
होकर कृतज्ञ
अंतर सहसा ही भर आता
चेतन प्रबुद्ध मन
आसपास को भूल-बिसर
अपमान-मान सब खोता है
अक्सर अब जब एकांत कहीं भी होता है!

लतर

बड़े-बड़े गुच्छों वाली
सुर्ख़ फूलों की लतर
जिसके लिए कभी ज़िद थी
यह फूले तो मेरे ही घर।
अब कहीं भी दिखती है
किसी के द्वार बन या उपवन
तो भला लगता है।

धीरे धीरे
जाने क्यों
भूलती ही जाती हूँ मैं
ख़ुद को और अपनापन

बस भूलती नहीं है तो
बड़े-बड़े गुच्छों वाली
सुर्ख़ फूलों की लतर
जिसके लिए कभी ज़िद थी
यह फूले तो मेरे ही घर।

एक चतुष्पदी

एक पग उठता कि लगता
हौसले मन में पहाड़ों को उलटने के
बहुत जागे।

दूसरा पग प्रेरणा देता
गहन किस अन्ध गह्वर में सभी कुछ
छोड़ मन भागे।

क्षण प्रतिक्षण राह में यह
प्रगति औ' अवरोध के दो मोड़ सँग-सँग
ही खड़े आगे।

शक्तिमय सक्षम बना दे कौन ?
उन्नति की दिशा में बढ़ चलें हम
अगति को त्यागे।

वह

हर एक व्यक्ति से घृणा द्वेष प्रतिहिंसा।
घबराना श्रम से,
कामों से जा छुपना,
बेमतलब सबसे
तना-तना-सा रहना।
हर जगह कपट, छलना की मन में मंशा।

नीवों की ईंटों को
चुपके खिसकाना,
सूरज के घर पर
कालिख ले चढ़ जाना,
धोखेबाज़ी चोरी का हरदम बाना।

स्याही के काँटे
घर घर बोते फिरना,
ख़ुद आग लगाकर
दूर तमाशा तकना,
मकड़ी-सा सब पर जाला ताने जाना।

सोते में ही गर्दन पर
हाथ बढ़ाना,
रस्ता चलतों पर
ढेले तान चलाना,

अपने स्वार्थों में जीवन सबका जीता।

सब चाँद-सितारे

अपंने लिए सहेजे,

औरों को यम के

घर से हल्दी भेजे,

मीठा मीठा गप, थू थू थू सब तीता।

वक़्त

यह कैसा वक़्त है
कि किसी को कड़ी बात कहो
तो वह बुरा नहीं मानता।

जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं
उन्हें कोई नहीं जानता

ख़ूब खिले हुए फूल को देख कर
अचानक ख़ुश हो जाना,
बड़े स्नेही सुहृद की हार पर
मन भर लाना,
झुँझलाना,
अभिव्यक्ति के इन सीधे सादे रूपों को भी
सब भूल गए,
कोई नहीं पहिचानता।

यह कैसी लाचारी है
कि हमने अपनी सहजता ही
एकदम बिसारी है!

इसके बिना जीवन कुछ इतना कठिन है
कि फ़र्क़ जल्दी समझ में नहीं आता
यह दुर्दिन है या सुदिन है।

जो भी हो संघर्षों की बात तो ठीक है
बढ़ने वाले के लिए
यही तो एक लीक है।
फिर भी दुख सुख से यह कैसी निस्संगता
कि किसी को कड़ी बात कहो
तो भी वह बुरा नहीं मानता
यह कैसा वक़्त है।

देवता का प्राप्य

देवता का प्राप्य अनसूँघा अछूता पुष्प होता है
बात बचपन की सुनी, आयी अचानक याद।
बीज बोया जतन से,
सींचा सँवारा
प्यार से प्रतिक्षण निहारा।
अन्त में बेला प्रतीक्षित आज आयी——
फुनगियों में लहलहा,
अनुपम हिमानी, शुभ्र कुसुमित गुच्छ झूला।
ज्योति निर्झर मुग्ध मन तकता रहा;
सहसा न बन पाया कि छू लूँ हाथ से
जो सिर्फ पावन और शुभ ही तो नहीं हैं।

एक क्षण बीता कि मन में भाव आया
तोड़ लूँ——चरणों चढ़ा दूँ, श्रेय इसका इसे दे लूँ
धन्य हो लूँ, धन्य कर दूँ।

भाव आया ठहर कर स्थायी बना,
फिर दूसरे क्षण गुच्छ मेरे हाथ में
पग उठे देवालय दिशा में।

पुष्प सा हो भार कर में,
और शुभ संकल्प मन में
पगों की गति के लिए तो अन्य कुछ वांछित नहीं है!

निकट देवालय अचानक
हाथ से छूटा,
प्रफुल्लित गुच्छ कर्दम में।

मुड़ूँ, झुककर उठा लूँ—
भाव ने रोका...
झुका,
पर वर्जना के स्वरों में
यों किसी ने टोका—

शिव ! शिव ! देवता औ' पंक !
कर्दम लिप्त ! वह देवत्व !
यह तो अशुचि अब।

रुक गया,
ठिठका रहा पैरों सहित संकल्प पूजा भाव का।

पास दीखा तभी पुरइन पात पर,
हँसता विहँसता एक कुवलय,
गन्ध मनभायी।

तोड़ कर अंजलि सहेजे,
द्रुत पगों से चल दिया
पर पुष्प ने टोका—
अरे ओ बन्धु !
जन्म से हूँ उच्च अनबींधा, अछूता
पर परिस्थितिवश गिरा हूँ
पंक में,
तो अशुचि ठहरा !
और वह जो पंक में उपजा

कि जिसका प्राण आसव मात्र यह कर्दम !
वही पंकज बना है इस मूर्ति का निर्माल्य
क्या यह सत्य ! तुमको ग्राह्य !
वर्जना का भाव जो उस क्षण उठा था
छिपी परतों से उझक बोला——

सत्य क्या है ! ग्राह्य क्या है !
प्रश्न यह सम्मुख नहीं है,
बन्धु हम केवल निमित्त !
खींचती है लीक हमको
देखती कब दीठ हमको
चल रहे बस जानते
हर शुभ अशुभ
पावन अपावन
सत्य मिथ्या
आवरण में,
नियम के या प्रथा के,
या रूढ़ि और परम्परा के हो,
हमें स्वीकार !
फिर भी प्रश्न तो . . .

बीतते हैं दिन

दृष्टि ही थिर नहीं मेरी।

दीखता तो है
क्षितिज के पार
कुंकुम-बिन्दु सा
रक्ताभ-अरुणिम
लक्ष्य वह
ज्यों राह भूले पथिक के हित
दीप रक्खा देहरी।
पर दृष्टि ही थिर नहीं मेरी।

भागता है मन
धवल हिमखंड छितरे
बादलों की ओर।
घेरता है प्राण को
उस सप्तपर्णी छाँह का हर छोर।

कहीं फैले वन-विजन के
दूर वाले दृश्य
खिलती पाँखुरी के रंग नीलम श्वेत
वृक्षों झुरमुटों के पार
होता चाँद जहाँ अदृश्य
मुझको मोहते हैं।

चाहता मन उड़ूँ पंख पसार
मुक्त विहंग सा
अनजान देशों में थकूँ,
थक
अल्पना चित्रित गगन के
गेह में सो रहूँ।

फूल से बातें करूँ
पूछूँ कली से
भेद खिलने का
कहीं घर ओर जाती
साँझ का आँचल
दबे पाँवों पकड़ कर बाँध दूँ
उस द्वार वाली सुर्ख़ बेगमबेलिया की बेल से।
हँसूँ,
देखूँ,
देखता ही रहूँ।

बीतते हैं रात-दिन
यों ही भटकते
मोह करते
दीखता तो आज भी है
क्षितिज के उस पार
कुंकुम-बिन्दु सा
रक्ताभ-अरुणिम
लक्ष्य
पर मैं उसे देखूँ
सिर्फ़ उसको देख पाऊँ

चतुर्दिक बिखरे पड़े
जो स्वप्न
सुषमा, मोह, आकर्षण
सभी कुछ भूल जाऊँ . . .

अभी शायद बहुत देरी—
अभी तो यह दृष्टि ही थिर नहीं मेरी।

आगत का स्वागत

मुँह ढाँक कर सोने से बहुत अच्छा है,
कि उठो ज़रा,
कमरे की गर्द को ही झाड़ लो।
शेल्फ़ में बिखरी किताबों का ढेर,
तनिक चुन दो।
छितरे छितराए सब तिनकों को फेंको।
खिड़की के उढ़के हुए,
पल्लों को खोलो।
ज़रा हवा ही आए।
सब रौशन कर जाए।

. . .हाँ, अब ठीक !
तनिक आहट से बैठो,
जाने किस क्षण कौन आ जाए।
खुली हुई फिज़ाँ में,
कोई गीत ही लहर जाए।
आहट में ऐसे प्रतीक्षातुर देख तुम्हें,
कोई फ़रिश्ता ही आ पड़े।
माँगने से जाने क्या दे जाए।

नहीं तो स्वर्ग से निर्वासित,
किसी अप्सरा को ही,
यहाँ आश्रय दीख पड़े।

खुले हुए द्वार से बड़ी संभावनाएँ हैं मित्र !
नहीं तो जाने क्या कौन,
दस्तक दे दे कर लौट जाएँगे।
सुनो,
किसी आगत की प्रतीक्षा में बैठना,
मुँह ढाँक कर सोने से बहुत बेहतर है।

दंड दो मुझे

दंड दो मुझे
यदि मैं दुख में भी सोचूँ
ये फूल क्यों विहँसते हैं
अंगों में इतनी कमनीयता बटोरे
क्यों मुग्ध सदा करते हैं ।

दंड दो मुझे
यदि मैं नीले वितान तले
उड़ते बनहंसों के कलरव को
सुनूँ नहीं
विविध रंग-गंधमयी
फैली धरित्री को
देखूँ मुँह फेरूँ वितृष्णा से
बार बार सोचूँ
ज्यों मेरी आशाओं के अंकुर
मुरझाए हैं
वृद्ध हुआ मन
बिना एक बार आँखों से झलके
जिज्ञासा कौतूहल के प्रश्न सभी
गूँगे बन बैठे हैं
वैसे ही धरती का सारा यह वैभव
क्यों मूक नहीं होता है

अंकुर जो जमता, क्यों बढ़ता ही आता है
फूलों में फलों में रस रंग
भर आता है।
सब कुछ समय से।

दंड दो मुझे
यदि मैं घुँघराले रेशम बालों वाली
सुर्ख़ सेब जैसी,
पड़ोसिन की, चंचल उस बच्ची
के भोले प्रिय प्रश्नों को
सुनूँ, अनसुना कर अनुत्तर रह जाऊँ।

तुम दंड दो मुझे
मैं यदि हर बार दुर्भाव ले आऊँ
मैं यदि औरों की हँसी ख़ुशी
किंचित भी सह नहीं पाऊँ

ऐसे इस मुझमें ग़लती होगी
ऐसा यह मैं ही अधूरा हूँगा।

विकृतियाँ

दूर तक फैला पड़ा
विस्तीर्ण
हहराता
दिशाओं को गुँजाता
तरंगाकुल क्षुब्ध सीमाहीन
सागर जब कभी देखूँ
सदा मन चाहता है—

दौड़ कर जाऊँ
सुनहली नील फेनिल ऊर्म्मियों से
जा मिलूँ
उस अतल गह्वर बीच
खोऊँ
ज्वार में
जल में
तनिक बह लूँ।

डूबते सूरज सरीखी
लाल
धू धू जल रही
यदि अग्नि की कंपित शिखा
दीखे कहीं

मन चाहता है
मुग्ध थोड़ा और...थोड़ा और...
छू लूँ लपट को
यह अरुणिमा सब
अंजली भर लूँ !
क्या करूँ ?
इस दग्ध पावक रंग को
पी लूं ?

और यह क्या है ?

अबोध अजान शिशु की
मात्र जिज्ञासा !
कि जिसके लिए
बिखरा विविध रूप प्रसार
एकदम अजनबी है
स्वाद से या स्पर्श से
जैसे बने
परिचय बढ़ाना चाहता है।

किन्तु मैं तो जानती हूँ
अग्नि की वह
लहकती
मोहक
शिखा पहिचानती हूँ।

अभी चट् चट् जल उठेगा
रक्त मज्जा मांस

अंजलि बँधी ज्यों की त्यों
झुलस रह जाएगी
आग है
यह सिर्फ़ मुझे जलायगी।

क्षुब्ध लहरों के थपेड़े
अभी जिस निर्मम त्वरा से
देह को विच्छिन्न करके छोड़ देंगे
धार में
मँझधार में
जिस दिशा चाहे मोड़ देंगे।
जानती हूँ
सभी कुछ पहचानती हूँ
फिर भला क्यों
टूटना
यों बिखर जाना
चाहता मन
और वह भी मुग्ध...
ऐसे मुग्ध होकर... ?

कौन बने समभागी.

क्षण में मन तपःपूत होकर
(ज्यों उठती है
समिधा की शुभ्र ज्योति
हरने को अंधकार
पाप भार)
उमड़ा था।

नयनों में मुक्ता जल
छल-छल-छल
वाणी से फूटा था प्रथम छंद
बिखरी थी दिशि दिशि में ग्रंथि
जिसे जड़ता ने युग युग तक जकड़ा था।

तुम थे वह
तुम्हीं ने बँटाई थी
असहनीय पीड़ा
उन प्राणों की निस्सहाय
भटका जो करती कान्तार बीच
व्यर्थ
उसे तुमने दे दिया
अर्थ अभिप्राय

हम हैं जो विह्वल हैं
बिछुड़े हैं
एक नहीं कितने ही क्रौंच युग्म
भावों के, साधों के
घेर घेर मारे हैं बान उन्होंने हमको
निर्दय अहेरी वे निश्छल अनुरागों के।

निरवलंब आकुल पथभ्रष्ट बने
अपनी पीड़ाओं के गीत हमीं गाते हैं
फिर फिर दुहराते हैं
छाँह करे कौन यहाँ
आहत एकाकी पर
कौन बने समभागी
पर दुख का
आहत का
पीड़ा देने वाले इतने बहुतेरे हैं
एक नहीं ऐसा जो
आकर बँटा ले उसे।

स्थितप्रज्ञ

वह तट तो पीछे ही छूट गया
लौट चलूँ, मुड़ जाऊँ
ऐसे असमंजस को बार बार
मन में मैं दुहराऊँ
वापस कुछ डग जाऊँ, फिर आऊँ
वह तट तो पीछे ही छूट गया।

जो मुझको बाँधे था
मोह निर्मोह कहो
सब शत शत खंडों में टूट गया।

अब तो ये लहरें हैं
ऊँची वर्तुलाकार
फेनिल उच्छ्वासों की बुद्बुद से ढँका हुआ
सागर का अंतहीन प्रखर ज्वार।

लहरें हैं
लहरों में घिरा हुआ
मैं हूँ
जो प्रस्तुत हूँ
पैठूँ गहराई में
पार करूँ सिंधु अतल

जल की बाहें वत्सल
कुंचित भँवरों के दृगतल
आयें जो सम्मुख
उन सबका सत्कार करूँ
मत ठहरूँ
बढ़ूँ बढ़ूँ सतत बढ़ूँ
पार कहीं होगा तो...

मैं प्रस्तुत हूँ

मैं प्रस्तुत हूँ

इन कई दिनों के चिंतन औ संघर्ष बाद
यह क्षण जो अब आ पाया है
उसमें बँध कर
मैं प्रस्तुत हूँ
तुमसे सब कुछ कह देने को।

वह सब कुछ जो अब तक यों छिपा चला आया
ज्यों सागर तो रत्नाकर ही कहलाता है
अन्दर क्या है यह ऊपर वाला क्या जाने।
मैं प्रस्तुत हूँ
यह क्षण भी कहीं न खो जाए
अभिमान नाम का पद का भी तो होता है
यह कछुए सी मेरी आत्मा
पंजे फैला
असली स्वरूप जो तुम्हें दिखाने को
उत्सुक हो बैठी है।
क्या जाने अगले क्षण की ही आहट को पा
सब कुछ अपने में फिर समेट ले झट अंदर।

मैं प्रस्तुत हूँ
कह देने को

इस सागर में तुम मणि रत्नों की कौन कहे
कुछ शंख सीपियाँ भी तो कहीं न पाओगे
केवल घोंघे केवल घोंघे ।
वे जो साधारण नदियों तालाबों धाराओं में भी
पाए जाते हैं।

मैं प्रस्तुत हूँ
कह देने को
मेरे गीतों, मेरी बातों में यहाँ वहाँ
जो ज़िक्र असाधारणता के दिख जाते हैं
वे सभी झूठ ।
सारा जीवन मेरा साधारण ही बीता
मैंने कोई भी बड़ा दर्द तो सहा नहीं
कुछ क्षण भी मुझ सँग बहुत हर्ष तो रहा नहीं
जो दृढ़ता दर्प-पंक्तियों में मैने बाँधा
वह मुझमें तो संभाव्य नहीं।

वह गीत कि जिसका दर्द देख कर आँखें सब भर आई थीं
मुझमें उसकी अनुभूति
महज़ घर के झगड़ों से उपजी थी।
वह अडिग अविचलित पंथ-ज्ञान
जिसके ऊपर भावुक हृदयों की श्रद्धा उमड़ी मँडराई
बस विवश पराजित तकिए में मुँह गाड़
खीज कर लिखा गया।

स्थितियाँ जो रोज़ तुम्हारे इसके उसके जीवन में आतीं
मेरी भी हैं।
पर चतुराई तो यह देखो
तुम सबके सब तो सहन कर रहे मौन खड़े

मुझमें क्या खूबी ? किंचित सुख किंचित दुख पर
विश्वास दर्द के गीत बना कर गाता हूँ
कह सकता हूँ
क्या इतनी ही खूबी सब कुछ
इस बल पर मेरे हर्ष-पीर बड़भागी हैं।
क्या इसीलिए अव्यक्त मूक रह जाओगे
ओ मेरे बंधु बांधव ज्ञानी अज्ञानी !

आओ तो मेरे सँग आओ
कुछ और नहीं तो बस
चीख़ो चिल्लाओ
कुछ
बेसुरा सही
बेछंद सही
कम से कम मेरा दर्प हटे
मैं जानूँ तो
जिस एक व्यथा से भटका भटका मैं फिरता
वह तुममें उसमें इस उसमें है सभी जगह।

मैं मानूँ तो
अभिव्यक्त मुझे करनी है
जन मन की वाणी
मेरी प्रतिभा यदि कल्याणी
तो दर्द हरे, सुख सौख्य भरे
यह नहीं कि अपने तन के मन के
दुख दर्दों में
जिये मरे।

प्रतीक्षा

करूँगी प्रतीक्षा अभी

दृष्टि उस सुदूर भविष्य पर टिका कर
फिर करूँगी काम
प्रश्न नहीं पूछूँगी
जिज्ञासा अन्तहीन होती है
मेरे लिए काम जैसे
जपने को एक नाम।

मैं ही तो हूँ
जिसने उपवन में
बीजों को बोया है
अंकुर के उगने से बढ़ने तक
फलने तक
धैर्य नहीं खोया है।
एक एक कोपल की चाव से
निहारी है बाट सदा
देखे हैं
शिशु की हथेली से मसृण
हरित किसलय दल
कैसे बढ़ आते हैं
दुर्बल कृश अंग लिए उपजे थे

वे ही परिपुष्ट बने
झूम लहराते हैं

मैं ही तो हूँ
जिसने प्यार से सँवारी है
डाल-डाल
आएँगी कलियाँ
फिर बड़े गझिन गुच्छों में
फूलेंगे फूल लाल

करूँगी प्रतीक्षा अभी
पौधा है वर्तमान
हर दिन हर क्षण
नव कोपल पल्लव समान
हरियाए लहराए
यत्न से सँवारूँगी
आखिर तो
बड़े गझिन गंधयुक्त गुच्छों-सा
आएगा 'भविष्य' कभी
करूँगी प्रतीक्षा अभी।

तुम

तुम उन्हीं चमकती आँखों से बस देखो तो
यह इतनी बड़ी सृष्टि
यह नहीं पराई
देखो, सिर्फ़ तुम्हारी है
खिलती फलती धरती यह
कैसी, कितनी प्यारी है
इस सबसे प्यार करो
इस पर इतना उपकार करो
बस उन्हीं चमकती आँखों से तुम देखो तो

मैं बादल सा उमड़ूँगा
मरुथल पर छा जाऊँगा
मैं फसलों सा उग
बंजर धरती पर लहराऊँगा
चट्टानों पर चढ़
सूरज को आवाज़ लगाऊँगा
किरणों का हाथ पकड़
अँधियारी राह बताऊँगा
यह चमक कहीं दीखे
फिर मैं थिर बैठ न पाऊँगा
आँखों से उन्हीं चमकती... देखो तो तुम बस

मुझको सुख साधन मत दो
मत दो मणि मंजूषाएँ
क्यों चाहूँगा मैं
कृपाकोर से निःसृत सुविधाएँ
बस झरने दो आँखों से छलछल
अमृत् का झरना
हर बार नहाकर निकलूँगा
तेजस्वी युवा बना
इस तरुणाई के आगे
राहें शीश झुकाएँगी
अप्राप्य अभी जो लगतीं
सब निधियाँ मिल जाएँगी
देखो तो उन्हीं चमकती आँखों से तुम
देखो तो।

मैं जो तुम्हारा हूँ

झरने सा अप्रतिहत झरता हूँ
मुकुलित कली सा
इस अग्र जग को तकता हूँ
कौंधती बिजलियों सा हँसता हूँ
हाथ बढ़ा बूँदों को छूता सिहरता हूँ
तो निश्चय तुम्हारा हूँ
अभी नहीं हारा हूँ

यह जो थम जाता हूँ
स्तब्ध और शंकित हो आता हूँ
शीश झुका कठिन मनःताप कभी पाता हूँ
यह सब अकेले का मेरा है
सुनकर पुकार हर बार जिसे तोड़ूँ वह घेरा है

हाथ तुम बढ़ाओ
आवाज़ कुछ उठाओ
मैं आता हूँ
सिर्फ़ उस पुकार से नाता बनाता हूँ
आता हूँ
ऊँचे और ऊँचे आवाज़ तुम उठाओ
लो, सँग सँग मैं गाता हूँ।

संकल्प

चाँद सुगठित अंग वाले
किसी देवकुमार जैसा
अभी नभ में सो रहा है।

खिल चुकी शेफालिका
पर गंध का झरना
अभी भी झर रहा है।

सुवासित हैं सब दिशाएँ।
कर्म कोलाहल अजानी घाटियों में
स्वप्न के पट बुन रहा है
मौन हो कण कण धरा का
पढ़ रहा मानों ऋचाएँ।

सुवासित हैं सब दिशाएँ।

भोर की यह ब्राह्म बेला
अभी क्वाँरी लाज सा
यह सुबह का पन्ना
अछूता ही पड़ा है
इस सुबह पर आज पहली सतर में लिख दूँ।
मुझी से शुरू हो यह दिन!

तो सुनो, संकल्प पढ़ती हूँ
घटें वे सब प्रहर
इस आयु से मेरी
कि जब मैं अनसुनी कर दूँ
क्षितिज के पार से आती हुई झंकार
जो हरदम बुलाती है
चलो, चलते चलो
यह, मैं यहाँ हूँ
पंथ का अवसान।

जिस क्षण भूल जाऊँ
नाम तेरा
ज्योति सा निष्कंप
जो हरदम दिलाता ध्यान
आगे...और आगे...
तेरा यह नहीं है स्थान।

जिस क्षण मोड़ लूँ मुँह
कर्म से
भूलूँ कभी वादा किया था
बढ़ूँगी हर दशा में अम्लान।

जब भी तोड़ लूँ
उस दर्द से नाता
कि जो हर पल
विकल उन्मन बनाता प्राण।

सभी वे प्रहर
मेरी आयु से घट जाएँ

जैसे नीर घटता है जलधि में
ज्वार के पश्चात।
जैसे वृंत से झरते अवांछित पात
पल झर जाएँ !

आह ! जीकर उन पलों में क्या करूँगी
जो नहीं संबद्ध तुमसे
कर्म या उल्लास हो
अभिव्यक्ति हो या प्यास हो
मैं उसे लेकर क्या करूँगी !

सुबह के तो स्वप्न सच होते
आज मेरा जागरण सच हो !
यह सुबह झूठी न कहलाए
जिसे संकल्प पढ़ कर
जल सरीखा छोड़ती हूँ।